शिक्षा का बहुराष्ट्रीयकरण

❑ सुरेश पंडित

भारत में आर्थिक उदारीकरण की प्रक्रिया की बढ़त और बहुराष्ट्रीयकरण के विस्तार का सामाजिक प्रभाव अब स्पष्ट परिलक्षित होने लगा है । शिक्षा का क्षेत्र भी इस प्रभाव से अछूता नहीं है । मोटे तौर पर तीन स्तरों पर इस प्रभाव को लक्षित किया जा सकता है । प्रथम तो राज्य की रीति-नीतियों में विदेशी निवेशकों की इच्छानुसार किया गया फेरबदल है । दूसरे, शिक्षा के व्यापक उद्देश्य का साक्षर उपभोक्ता तैयार करने में 'रिड्यूस' करना और उच्च शिक्षा को जन-सामान्य की पहुंच से दूर करना है । तीसरे, विद्यालयों और शिक्षार्थियों को बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के उत्पादों की खपत के लिए इस्तेमाल करना है । यह टिप्पणी इस प्रभाव का एक संक्षिप्त परिचय देती है ।

कहते हैं लोकतांत्रिक व्यवस्था में सत्ता लोगों के हाथों में रहती है । वे अपने चुने हुए प्रतिनिधियों के जरिये अपने देश का शासन चलाते हैं । लेकिन हमारे देश के लोकतंत्र का इतिहास यह रहा है कि यहां बहुत से काम ऐसे भी हो जाते हैं जिन्हें जन प्रतिनिधि नहीं चाहते या जो जनता के हित में नहीं होते। दरअसल जन प्रतिनिधि और उनके द्वारा बनाई गई सरकारें भी कुछ ऐसी अदृश्य शक्तियों द्वारा प्राय: नियंत्रित होती रहती हैं जिनके अपने स्वार्थ होते हैं, अपनी प्राथमिकताएं होती हैं। इनमें बड़े-बड़े व्यावसायिक-औद्योगिक घरानों के लोग, नौकरशाह, वोट बैंक पर कब्जा रखने वाले लोग और कतिपय अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों व बहुराष्ट्रीय निगमों के लोग प्रमुख होते हैं। ये लोग सरकारों से न केवल अपने हितों के पक्ष में निर्णय करवा लेने बल्कि पहले से चले आ रहे नियमों-कानूनों को बदलवा लेने तक में सफल हो जाते हैं । इस तरह जनता को अपना चेहरा दिखाये बिना ही वे उनके हकों पर डाका डालने, उन्हें अपने स्वार्थों के लिये इस्तेमाल में लाने में, कामयाब हो जाते हैं ।

इन लोगों का वर्चस्व हमारे देश में तभी से चला आ रहा है जब से हम आजाद हुए हैं । जमींदारी उन्मूलन, भूमि सुधार, बुनियादी तालीम तथा समाज कल्याण के अनेकानेक कार्यक्रमों को या तो इन्होंने चलने ही नहीं दिया या फिर उन्हें इतने विकृत ढंग से चलवाया कि देश की जनता में स्वयं उनके प्रति अरूचि पैदा हो गई । आजादी के पहले कुछ सालों में बुनियादी तालीम का संचालन बहुत अच्छे ढंग से हुआ और उसके परिणाम भी अच्छे आते दिखाई देने लगे । लेकिन शिक्षा विभाग के दफ्तरशाहों को पढ़ने-पढ़ाने की इस विधा में अपने विशिष्ट होने की सामाजिक स्थिति को खतरे ही खतरे दिखाई दिये । अपने पदानुक्रम और वर्ग भेद को चलाये रखने के लिये उन्हें यह जरूरी लगा कि उस शिक्षा पद्धति को इतना कुरूप व नकारा कर दिया जाय कि लोगों की उसके प्रति रुचि स्वत: नष्ट हो जाय । इन बेसिक स्कूलों की अच्छाइयों को सुनियोजित तरीके से नष्ट करने और इनकी प्रगति की राहों में निरन्तर रोड़े अटकाते रहने के प्रयत्न किये गये।

बुनियादी तालीम पश्चिमी या ब्रिटिश शिक्षा पद्धति के समानांतर चलाया जा सकने वाला एक अनूठा अभिनव प्रयोग ही नहीं था बल्कि भारतीय शिक्षा की एक क्रांतिकारी संरचना भी थी। इसमें सीखने को श्रम से जोड़ने का प्रावधान समाज में जहां श्रम के महत्त्व को प्रतिष्ठा दिलाने का अनुष्ठान था, वहीं वर्ग भेद को मिटाने का एक अचूक उपाय भी था । अंग्रेजी शिक्षा जहां श्रम से कटे ज्ञान के जरिये पढ़ने वालों को कागजी काम के लिये तैयार कर स्वयं को श्रेष्ठतर स्थापित करने वाली प्रक्रिया थी । वहीं बुनियादी शिक्षा उसके मूलचरित्र पर ही प्रहार करने वाली प्रक्रिया थी । समाज में हर तरह के भेदभाव रखने वाली, परिवर्तन विरोधी शक्तियां, जाहिर है, इसे पसंद नहीं कर सकती थी इसलिए उन्होंने इसे नाकाम कर दिया ।

आजादी के बाद के पिछले 50 वर्षों में मैकालेवादी भारतीय शिक्षा पद्धति में समय-समय पर संशोधन परिवर्तन तो हुए पर उसका मूल चरित्र पूर्ववत रहा क्योंकि ये परिवर्तन अधिकतर शिक्षा के ढांचे में तो हुए उसकी मूल आत्मा का अक्षुण्ण रखा गया। यथास्थितिवादियों के लिये उसे बनाये रखना उपयोगी था । श्रम और सीखने के संबंध छत्तीसी बने रहे । परिणामस्वरूप मेहनत-मजदूरी करने वाले लोग अशिक्षित या अल्पशिक्षित तथा दिमागी काम करने वाले शिक्षित व प्रबुद्ध बने रहे । इस प्रकार भारतीय समाज दो वर्गों में बंटा रहा । श्रमिक लोग गरीब और बौद्धिक लोग अपेक्षाकृत अमीर बनते रहे ।

उस शिक्षा पद्धति ने राष्ट्रीय और लोकतांत्रिक मूल्यों का धीरे-धीरे ह्रास किया और व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिये अपनाये जाने वाले हर तरह के उपायों को वैधता प्रदान की । लेकिन अपने देश, अपनी संस्कृति, अपने रहन-सहन एवं लोकव्यवहार में इस बदलाव को लाने में उस पद्धति को लगभग आधी सदी का समय लग गया । उस प्रक्रिया को और तेज करने तथा बचे खुचे मूल्यों-मानकों को जड़मूल से उखाड़ डालने के लिये अब साम्राज्यवादी ताकतें, जो ब्रिटिश शासकों से अधिक सूक्ष्म किन्तु मारक औजारों से लैस हैं, जी जान से जुट गई हैं ।

तीसरी दुनिया के देशों की शिक्षा प्रणालियों को अपने कब्जे में लेकर राजनैतिक, आर्थिक व सामाजिक जीवन को अपने अनुरूप बदल डालने की साजिश 1990 में थाइलैंड के जोमतीन नगर में हुई कांफ्रेंस में रची गई । इसका आयोजन यूनिसेफ, यूएनडीपी, यूनेस्को तथा विश्व बैंक की पहल पर हुआ था । इसमें विकसित देशों की आत्मा अचानक द्रवित हो उठी थी और वे गरीब देशों के लोगों को 2000 तक शिक्षित कर देने के लिये उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता देने को उतावले हो उठे थे । विश्व बैंक, यूरोपीय समुदाय, ब्रिटिश ओवरसीज डवलपमेंट एजेंसी (ओडी) और स्वीडीश इंटरनेशनल डवलपमेंट असिस्टेंस (सीडा) जैसी दानदाता एजेंसियों ने तो अपने खजानों के दरवाजे इस काम के लिये खोलने की अभूतपूर्व तत्परता दिखला दी । जाहिर है, उनकी यह दयार्द्रता स्वत: स्फूर्त नहीं थी। वे यह सब एक दूरगामी निवेश के तौर पर कर रहे थे ताकि इनमें विकसित देशों के उत्पादों के लिये बाजार तैयार हो जाये और यहां के लोग उनके माल के उपभोक्ता बन जायें । उनकी सहायता की शर्तों में सर्व प्रमुख शर्त यह थी कि दान प्राप्त करने वाले देशों को उनकी अमुक अमुक वस्तुओं का आयात अनिवार्यत: करना होगा ।

भारत ने उनके प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया है और अब यहां के 176 जिलों में प्राथमिक शिक्षा उनकी योजना के अनुसार चल रही है और 66 जिलों में चलाने के लिये प्रयास हो रहे हैं । आठवीं योजना के अंत तक यह कार्यक्रम देश के सभी जिलों में चल पायेगा ऐसी आशा है । 'जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम' जिसे प्रचलित भाषा में 'डीपीईपी' कहा जाता है, के बारे में विस्तार से केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय द्वारा प्रकाशित एक दस्तावेज में बताया गया है । इसमें विकेन्द्रीकरण, संदर्भीकरण, संवर्धन और क्षमता निर्माण जैसे उद्देश्य निर्धारित किये गये हैं और इस प्रकार शिक्षा की सामान्य संरचना को अधिक जटिल व रहस्यमय बनाने की कोशिश की गई है । अधिक जोर योजना निर्माण के विकेन्द्रीकरण और क्रियान्वयन पर दिया गया है तथा यह निर्देश दिया गया है कि इसके लिये ग्राम स्तरीय समितियां बनाई जायें । लेकिन अब यह काम जिलास्तरीय समितियों के सुपुर्द कर दिया गया है । गांव से जिला स्तर पर लाने का यह काम उस नौकरशाही का है जो आजादी के बाद से ही सुनियोजित तरीकों से ग्रामवासियों को किसी भी बौद्धिक काम के लिये अयोग्य व अक्षम साबित कराने में लगी रही है । पंचायती राज व्यवस्था को जिस तरह नाकाम बनाने का काम राजनैतिक नेतृत्व और सरकारी अमला करता रहा है, उसी तरह वे गांव के लोगों द्वारा अपनी शिक्षण संस्थाओं को स्वयं सम्हाल लेने की उनकी क्षमता को भी खारिज करते रहे हैं । ऐसी स्थिति में यह अपेक्षा करना कि वे अपनी योजना स्वयं बनायेंगे और उसका क्रियान्वयन करवायेंगे एक खामखयाली के अलावा कुछ नहीं है । जिला स्तरीय समितियों में कुछ सेवा निवृत्त अध्यापक व कर्मचारी भी रखे गये हैं जिनकी आम लोगों की निगाहों में कोई हैसियत नहीं है। ये आजीवन आज्ञा पालक बने रहने के कारण ऊपर के आदेशों की अनुपालना के इतने अभ्यस्त हो चुके हैं कि ये कोई मौलिक सुझाव दे सकते हैं, ऐसा सोचना तक निरर्थक है । लगता है यह सब सोच-समझकर लेकिन लोगों को बेवकूफ बनाने के लिये किया जा रहा है । इससे नाम तो जिला कमेटियों का होगा पर निर्णायक शक्ति उस यूनिसेफ के पास रहेगी जो आज कल दानदाता एजेंसियों का प्रतिनिधि बना हुआ है।

दिसम्बर, 1993 में नई दिल्ली में इस कार्यक्रम की तैयारी को लेकर आयोजित एक कांफ्रेंस में तत्कालीन मानव संसाधन विकास मंत्री अर्जुनसिंह ने अपने उद्घाटन भाषण में कहा था - 'सहायता प्राप्त करने वाले देश को इस तरह की परियोजनाओं को अभिकल्पित करने, नियमन करने और क्रियान्वयन करने की पर्याप्त गुंजाइश मिलनी चाहिये ।' उनकी यह मांग साबित करती है कि वास्तव में इस कार्यक्रम की नियामक शक्ति किसके पास रहती है।

इसी तरह दूरस्थ शिक्षा की अत्युत्साही वकालत की जाती रही है । विश्व बैंक ने इसके संबंध में जो नीति निर्देशक पत्र प्रकाशित किया है उसमें इसकी उपयोगिता दर्शाते हुए यह दावा भी किया गया है कि संसाधनों की कमी से जूझते विकासशील देशों के लिये यह कम खर्चीली भी है । जाहिर है इस तरह की शिक्षा के लिये आवश्यक तकनीकी उपकरणों की आपूर्ति दानदाता देशों के आर्थिक हितों को संवर्धित करने वाली रही है ।

पहले दृश्य-श्रव्य उपकरणों अथवा शैक्षिक प्रौद्योगिकी द्वारा शिक्षा को प्रभावी बनाने पर जोर और अब कंप्यूटर व इंटरनेट के इस्तेमाल पर बल ने भारतीय शिक्षा कर्म को उतना लाभ नहीं पहुंचाया है जितना इन तकनीकियों के निर्यातक देशों को । इस तरह के उपकरणों की खपत अब विकासशील देशों में निरन्तर बढ़ती

जायेगी क्योंकि विकसित देशों में कार्यरत वैज्ञानिक इनमें लगातार कुछ न कुछ परिवर्तन करते रहेंगे । अनवरत लोकप्रिय बनाई जाती ये वस्तुएं मनुष्य को इनका इतना अभ्यस्त बनाती जायेंगी कि वे अपनी क्षमताओं को भुला कर इन्हें जीने की अनिवार्यता के रूप में स्वीकारते जायेंगे ।

सरकारी पाठ्य पुस्तक मंडलों को हाशिये पर खदेड़कर अब प्राइवेट प्रकाशकों को पाठ्य-पुस्तकें प्रकाशित करने का मौका दिया जा रहा है । विदेशी प्रकाशक जो आजादी से पहले भारत के लिये पाठ्य पुस्तक तैयार किया करते थे, अब फिर अपने प्रकाशनों के साथ बाजार में आने लगे हैं । मैक्मिलन, ओरिएन्ट लोंग मैन, पैंग्विन आदि तो पहले से ही यहां जमे हुए थे मैक्ग्रो हिल, जोन विले, प्रेंटिस हॉल जैसे नामी ग्रामी प्रकाशक भी अब अपना माल यहां खपाने को उद्यत हो रहे हैं ।

इतना ही नहीं 'टीचिंग एड' के बहाने विदेशी कंपनियां खिलौनों की सौगात स्कूलों में वितरित करने के लिये आ रही है ताकि आगे आने वाले बच्चे अपने अल्प मोली, कुटीर उद्योगों में निर्मित खिलौनों को ठुकरा कर इनके खरीददार बन जायें । हो सकता है कि आगामी दो चार सालों में इस देश के बीस करोड़ घरों में खेलने वाले बच्चे अमरीका, कोरिया, जापान, हांगकांग आदि देशों में बने खिलौनों से खेलने लग जायें ।

इसके साथ ही बच्चों के खाने-पीने और कपड़े पहनने की पुरानी आदतों को भी बदलकर बाजार के अनुरूप ढालने की कोशिशें जोरों पर है । भारत सरकार द्वारा चालू की गई दोपहर के भोजन की योजना धीरे धीरे बच्चों को आधुनिक फास्ट फूट ग्रहण करने की ओर ले जा रही है। पेप्सीकोला के पेय और ब्रिटानिया के भोज्य पदार्थ देने की और ध्यान दिया जा रहा है। जरा सोचिये सारे देश के बच्चों को जब इस तरह के खाद्य और पेय पदार्थ दिये जायेंगे तब इन्हें बनाने वाली फैक्ट्रियों को कितना मुनाफा होगा । जबकि पोषाहार विशेषज्ञ बार बार यह चेतावनी दे रहे हैं कि फास्ट फूड का लगातार सेवन अनेकों उदर संबंधी बीमारियों को जन्म देता है । 'कैलोग' और 'पोस्ट' जैसी बहुराष्ट्रीय कम्पनियां भी इस नाश्ता सप्लाई की राष्ट्रव्यापी दौड़ में शामिल होने जा रही हैं । बच्चों को यह समझाया जा रहा है कि नाश्ते का मतलब ही ब्रेड, बटर, जैम और जैली होता है या फिर कोर्न फ्लेक्स, नूडल्स, चाऊ मिन आदि भी इसमें शामिल हो सकते हैं । परांठा, चपाती, शक्करपारा, लड्डू या चिवड़ा जैसी चीजें अब 'आउट आफ डेट' हो गई हैं । इनका नाश्ता पिछड़ेपन की निशानी बन गया है ।

इसी तरह स्कूल यूनिफॉर्म का मामला है । यों तो यह शहरी व ग्रामीण सभी स्कूलों के लिये अनिवार्य है लेकिन अभिजात बच्चों के लिये प्राइवेट, पब्लिक स्कूल अब यह शर्त रखने लग गये हैं कि अपने बच्चों को वे स्वयं यूनिफॉर्म देंगे या फिर कभी खास कंपनी को वे इस काम के लिये अधिकृत कर देंगे । इस तरह की कम्पनियां अधिकतर बहुराष्ट्रीय कम्पनियां ही होती हैं । ऐसा करने के पीछे उनका तर्क यह रहता है कि अलग अलग दुकानों से भिन्न भिन्न फैक्ट्रियों का बना कपड़ा तरह तरह के दर्जियों से सिलवाने पर यूनिफॉर्म में एक रूपता नहीं आती। लेकिन वास्तविकता यह है कि इस तरह कुछ कम्पनियों और फैक्ट्रियों को तो अकूत मुनाफा कमाने की छूट दे दी ही जाती है स्कूल उनसे नकद अथवा अन्य रूप में भारी कमीशन भी प्राप्त कर लेते हैं । आधुनिक भाषा, आधुनिक भूषा, आधुनिक फूड, जाहिर है बच्चों के संस्कारों को भी प्रभावित करते हैं । वे ऐसा न करने वाले बच्चों को अपने से हीन, पिछड़ा व अयोग्य मानने लग जाते हैं और इस तरह यूनिफॉर्मिटी (एकरूपता) के नाम पर विषमता को बचपन से ही पनपाया जाता है ।

शिक्षा को इस तरह बहुराष्ट्रीय निगमों के फायदे के लिये खुला छोड़ देना भारतीय समाज की अपनी पहचान को निश्चित रूप से खतरे में डाल देना है । इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त बच्चे और उनके अभिभावक न केवल स्वयं को समाज के पिछड़े तबकों से श्रेष्ठतर व उच्चतर मानते हैं बल्कि उस संस्कृति को भी अपनी परम्परागत संस्कृति से वरेण्य मानते हैं जिसने उन्हें पिछड़ेपन से मुक्ति दिला दी है । अंग्रेज सरकार वर्षों के शासन काल में देश की एक छोटी सी जनसंख्या को ही अपनी संस्कृति का प्रशंसक बना पाई थी लेकिन वैश्वीकरण और आर्थिक उदारीकरण के लुभावने सब्जबाग दिखाकर मोहित कर देने वाली आधुनिक पश्चिमी शक्तियों ने तो पिछले दस-पन्द्रह सालों में ही बहुत कुछ बदलकर रख दिया है । घर घर में अब इन्होंने ऐसे उपकरण पहुंचा दिये हैं जो दिन रात लोगों का मस्तिष्क प्रक्षालन करते रहते हैं । प्राथमिक शिक्षा पर तो उनका कब्जा बढ़ता ही जा रहा है । निजीकरण को बेतहाशा प्रोत्साहन देकर माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा को भी उसी परिधि में लाया जा रहा है। उन्हें मशीनों में बदला जा रहा है जिनसे उद्योगों और व्यवसायों के लिये प्रशिक्षित युवक निकलते रहें। वैचारिक स्वतंत्रता इसका पहला शिकार होगी । बड़े व्यापारी उद्योगपति जो उच्च शिक्षा में पैसा लगायेंगे, कभी यह नहीं चाहेंगे कि उनके शिक्षा संस्थानों से ऐसे छात्र निकलें जो उनके हितों के विरूद्ध कुछ सोचने या करने वाले हों । इस प्रकार शिक्षा, जो लोगों की विविध रूपा प्रतिभा को उभारने, उनमें स्वतंत्र सोच की प्रवृत्ति विकसित करने तथा उनके व्यक्तित्व को बहुमुखी आयाम देने का काम करती थी अब केवल ऐसे मानव संसाधन निर्मित करेगी जो बहुराष्ट्रीय निगमों के पुर्जे और विश्व बाजार के उपभोक्ता मात्र होंगे । ◆